

हिन्दी-काव्य
और
अरविन्द-दर्शन

हिन्दी-काव्य और अरविन्द-दर्शन

डॉ० प्रतापसिंह चौहान एम० ए०, पी एच० डी०

युगवाणी



प्रकाशन

युगवाणी प्रकाशन

युगवाणी प्रकाशन, कानपुर

मूल्य • पन्द्रह रुपये केवल	पुस्तक	हिंदी-भाष्य और अरविन्द-दर्शन
	लेखक	डा० प्रतापसिंह चौहान एम ए, पी एच डी
	प्रकाशक •	युगवाणी प्रकाशन, १०७/६६ जवाहरनगर, कानपुर
	मुद्रक	अनुपम प्रेस, चन्द्रिका देवी रोड, कानपुर

आदरणीय डॉ० नगीरय मिश्र
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, पूना विश्वविद्यालय
को

सादर समर्पित

प्राक्थन

भारतीय वाङ्मय के सम्यक अध्ययन से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह विचार की एक ऐसी अविभाज्य श्रृंखला में अनुस्यूत है कि त्रिसंयुक्त रूप से देखने से उसकी मौलिकता एक प्रवाह अविकल नहीं रह सकते। धर्म, अर्थ, व्याकरण, साहित्य, वैद्यक, ज्योतिष, योग, तंत्र तथा ललित कला आदि सभी के रूप की चरमावस्था की ब्रह्म के रूप में देखने अथवा उन्हें ब्रह्म तक पहुँचाने का अदम्य प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जगत के समग्र विग्रह की ब्रह्म के रूप में देखने अथवा उस चरम तक पहुँचाने का यह प्रयास जहाँ एक ओर सत्य के साक्षात्कार की उदघोषणा करता है, वहीं वह समग्र विश्व की मौलिक एकता का भी परिचायक है। इन दोनों बातों का ऋजू संबंध दर्शन से सहज ही जोड़ा जा सकता है, अर्थात् ये दोनों विषय अत्यन्त प्राचीनकाल से दर्शन के परिवेश में परिगणित होते रहे हैं। इस प्रबंध में अरवि द दर्शन के सद्बोध और परिवेश में आधुनिक हिन्दी काव्य के अध्ययन की चेष्टा उसी वरिष्ठ परम्परा के अन्तर्गत मानी जानी चाहिये। यही इस प्रबंध की उपयोगिता है।

इस प्रबंध की उपलब्धि के विषय में भी संक्षेप में विचार कर लेना अप्राप्त गिक न होगा। आधुनिक कवियों के काव्य का अध्ययन करते समय मुझे कुछ ऐसे विचार सूत्र उपलब्ध हुये हैं जिनका संबंध प्राचीन दार्शनिक मान्यताओं से, आसानी से, जोड़ा जा सकता है। विशेषरूप से छायावादी कवियों के काव्य में अनेक दार्शनिक सिद्धांतों का सन्निवेश दृष्टिगोचर होता है। इस अध्ययन में मुझे कहीं तो इस दार्शनिक धारा का अबाध प्रवाह मिला है और कहीं उसकी धारा मंद होती हुई दृष्टिगोचर हुई है। किंतु वह अपन अबाध और मंद प्रवाह में वैचारिकता को पुरस्तर करती गयी है धरती और मानव की समस्याओं का निदान करती गयी है। छाया काल में उसने मानवता के संकट का निदान कभी अदृश दर्शन, कभी विशिष्टाद्वैत दर्शन, कभी प्रत्यभिज्ञा दर्शन तो कभी द्वैत दर्शन के सिद्धान्तों के अन्तर्गत देखा,

प्रगतिकाल में वह भावों की विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित हुई। अब उसकी ऐसी शीघ्र तरंग थी अरविन्द-दशन का संस्पर्श करने लगी है। मुझे वह दिन दूर नहीं लगता, जब हिन्दी काव्य भी अरविन्द-दशन से पूर्णतया आविष्ट हो जायगा। ऐसा इसलिए नहीं होगा कि उसे किसी दार्शनिक प्रक्रिया के प्रति पूर्णरूप से समर्पित हो जाना आवश्यक है, बल्कि ऐसा इसलिये होगा कि अरविन्द-दशन ऐहिक और पारलौकिक समस्याओं के लिए एक सन्तुलित दृष्टिकोण उपस्थित करना है और दशन तथा काव्य दोनों का चरम लक्ष्य परमानन्द की उपलब्धि है। अतएव, आधुनिक हिन्दी काव्य पर भी अरविन्द-दशन के प्रभाव का अध्ययन इस प्रबंध की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जानी चाहिये। इस विषय का इतना विस्तृत तथा इतना सम्पन्न अध्ययन हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत इसके पूर्वं प्रस्तुत नहीं किया गया। इस प्रबंध की आठ अध्याया में विभक्त किया गया है तथा उपसंहार में उसकी समावधानों पर प्रकाश डाला गया है।

मैं प्रबंध के लेखन में कितना सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय तो सुधीजन ही करेंगे। इस प्रबंध के लिखने में जिन गुरुजनों और मित्रों की अहेतुकी सहायता मिली है, उनके प्रति আমার প্রকট करना औपचारिकता मान्य होगी, क्योंकि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि 'आमार प्रशन्न' द्वारा थोड़ा स्नेह का यह शाश्वत धागा टूट जायगा, जिसमें बसा हुआ मैं आनन्द और गति का अनुभव करता रहा हूँ। अतएव इस स्थल पर उनके नाम स्मरण द्वारा ही संतोष कर रहा हूँ।

परमादरणीय डा० भगीरथ मिश्र, अध्यक्ष हिन्दी विभाग पूना विश्वविद्यालय के निर्देशन में यह प्रबंध लिखा गया है उनका सुझावों और अन्य प्रकार की अमूल्य सहायताओं से मैं अनिश्चय लाभान्वित हुआ हूँ। आदरणीय डा० जगदेवसिंह का दशन शास्त्र का महासागर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। अरविन्द-दशन की समझ तथा साहित्य-सौंदर्य की सूक्ष्मताओं के अध्ययन में तो मुझे उनका सहायता मिली ही है साथ ही उनके विद्यालय पुस्तकालय का भी मैंने उपयोग किया है। प्रोफेसर सत्यप्रसाद सिंह (अध्यक्ष अग्रेजी विभाग डी० ए० या० कालेज, बानपुर) की अहंभूती कृपा के कारण मुझे डा० ए० पी० कालेज के पुस्तकालय में जा सहायता प्राप्त हुई है उसके लिए मैं उनका हृदय में अनुगृहीत हूँ।

हिन्दी के मूल में समीपवर्ती भाषा विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष आदरणीय आचार्य रामचन्द्र प्रसाद के मार्गदर्शक सुझावों से मैं बेवकिल लाभान्वित हो रहा हूँ, बल्कि उन्होंने अतिशय कृपा करके इस प्रबंध का आद्यतम अवलोकन भी

इन गुरुजनो के अतिरिक्त उन मित्रो के नाम को भी भुलाया नहीं जा सकता, जो अपने सुचावो तथा भय सहायताओ के लिए सदैव प्रसन्न वदन तत्पर रहे हैं। उनमें चिर स्मरणीय रहेंगे डा० रामसुरेश त्रिपाठी, रीडर, संस्कृत विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, डा० लक्ष्मी नारायण शर्मा, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, युवराज दत्त कालेज लखीमपुर, खोरी तथा डा० जगदीश नारायण त्रिपाठी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग बी० एन० कालेज, फतेहगढ़।

समाजशास्त्र के ख्यातनामा लेखक श्री शम्भूरत्न त्रिपाठी का सहयोग प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन प्रकाशन में आद्यत रहा है, किन्तु अभिनव हृदय नैवेद्य के कारण धन्यवादादि की औपचारिकता अनपेक्षित प्रतीत होती है।

१ जुलाई १९६५
युवराजदत्त कालेज
लखीमपुर (खोरी) }

—प्रतापसिंह चौहान

विषय-सूची

१ परम्परागत दार्शनिक पृष्ठभूमि और अरविन्द-दर्शन पर उसका प्रभाव

अरविन्द दर्शन को प्रभावित करने वाले भारतीय सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय	१
वैदिक दर्शन	१
ब्राह्मण तथा आरण्यक	१
सुपनिषदों में दार्शनिक विचार	५
गीता दर्शन	९
मीमांसा दर्शन (पूर्व तथा उत्तर)	१२
सांख्य दर्शन	१६
योग दर्शन	१६
काश्मीरीय शैवदर्शन	२५
जैन-दर्शन	३२
बौद्ध-दर्शन	३७
श्री अरविन्द की दार्शनिक भावनाएँ	३९
ब्रह्म और परम चेतना का स्वरूप	४१
जीव का स्वरूप	४१
	४३

विषय-सूची

१ परम्परागत दार्शनिक पृष्ठभूमि और अरविन्द-दर्शन पर उसका प्रभाव

अरविन्द दर्शन को प्रभावित करने वाले भारतीय	१
सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय	१
वैदिक दर्शन	
ब्राह्मण तथा आरण्यक	१
उपनिषद् और दार्शनिक विचार	५
गीता दर्शन	९
मीमांसा दर्शन (पूष तथा उत्तर)	१२
सांख्य दर्शन	१६
योग दर्शन	१६
कार्शमोरीय शब्ददर्शन	२५
जैन-दर्शन	३२
बौद्ध-दर्शन	३७
श्री अरविन्द की दार्शनिक मायताएँ	३९
ब्रह्म और परम चेतना का स्वरूप	४१
जीव का स्वरूप	४१
	४३

जगत् का स्वरूप	४६
ब्रह्म, जीव और जगत का पारस्परिक सम्बन्ध	४७

२ अरविन्द की काव्य सम्बन्धी मान्यता ५७

प्रारम्भिक—कला और वाक्य	५७
अरविन्द के अनुसार काव्य की परिभाषा	६५
श्री अरविन्द की परिभाषा से तुलना	७२
अभिनव गुप्त पादाचार्य और श्री अरविन्द	७४
वह सवय और श्री अरविन्द	७६
रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री अरविन्द	७६
अरविन्द की काव्य-परिभाषा के विविष्ट अंगों की व्याख्या	७८
श्री अरविन्द के काव्य सम्बन्धी अन्य विचार	७९
कविता का क्षेत्र तथा उसका उद्देश्य	८०
काव्य में कल्पना-तत्त्व और श्री अरविन्द	८३
काव्य तथा अन्य कलाएँ	८५
संस्कृति, चिन्तन और वाक्य का सम्बन्ध	८९
काव्य में यथाय और आदेश की अवस्थिति	९०
काव्य में रस और श्री अरविन्द	९४
काव्य और दर्शन	९५
श्री अरविन्द के अनुसार सर्वोत्कृष्ट काव्य में	९८
काव्य में आनन्द और सौन्दर्य का अविभाज्य सम्बन्ध	१००
कविता और वाक्य योजना	१०१
कविता और छन्द	१०४
अमर और स्थायी काव्य तथा श्री अरविन्द	१०७
श्री अरविन्द की नूतन दार्शनिक स्थापना और कविता	१०८

३ छायावाद की काव्य और दर्शन ११०

प्रस्ताव का काव्य दर्शन	१११
कालामयी और प्रस्ताव की की दार्शनिक मायता	१११
प्रत्यभिज्ञा दर्शन	१११
निपनिषा	११३
अभेदवाद और आभासवाद	११४

प्रत्यभिज्ञादशन का आनन्दवाद और कामायनी	११६
बौद्धदशन (दुःखवाद)	११७
क्षणिकवाद	११७
कहना	११८
परमाणुवाद और प्रसाद जी	११६
भौतिकवाद और प्रसाद पर उसका प्रभाव	१२०
सूयकान्त त्रिपाठी 'निराला' का काव्य और दशन	१२१
'निराला' जी पर मानस दशन का प्रभाव	१२३
महादेवी वर्मा का काव्य और दशन	१२५
अरविन्द दशन और छायावादो काव्य	१२७
४ श्री अरविन्द की कविता और उसमे प्रतीक-योजना	१२८
श्री अरविन्द के काव्य विषय	१२८
श्री अरविन्द के काव्य सिद्धांत	१२९
श्री अरविन्द का महाकाव्य 'सावित्री'	१३१
श्री अरविन्द के काव्य मे प्रतीक-योजना	१४२
श्री अरविन्द की अन्तिम रचनाएँ और आध्यात्मिक उपलब्धियाँ का अंकन	१४७
५ पत के काव्य मे व्याप्त विचारधारा और अरविन्द-दर्शन का उस पर प्रभाव	१५२
पत का प्रारम्भिक काव्य और उनकी विचार-सरणि	१५२
पत जी के मध्ययुगीन काव्य की विचारधारा	१६३
पत जी की रचनाश्री का तृतीय चरण अथवा उनका अधुनातन काव्य और अरविन्द-दशन	१८०
६ उत्तर छायावादो-काव्य पर अरविन्द-दर्शन का प्रभाव	२३२
विद्यावती 'कोकिल' की रचनाएँ और अरविन्द-दर्शन	२३३
श्री आरसीप्रसाद सिंह की रचनाओं मे अरविन्द-दर्शन का प्रभाव	२६५

श्री अरसीप्रसाद सिंह की अथ रचनाओं पर अरविन्द-दशन का प्रभाव	२७३
अनुवाद काय	२७९
गोपालदास 'नीरज' द्वारा अनूदित श्री अरविन्द की रचनाएँ	२७६
श्रीमती विद्यावती 'कोकिल' द्वारा श्री अरविन्द की कविताओं का अनुवाद	२८१

७ हिन्दी की मानववादी काव्य-धारा और अरविन्द-दर्शन २८६

मानव और प्राचीन काव्य (पृष्ठभूमि के रूप में)	२८६
प्राचीन हिंदी काव्य और मानव	२८७
संत कबीर तथा अथ कवियों के मानवजीवन के अभ्युदय और नि श्रेयस्	२८८
संत काव्य में नि श्रेयस् का स्थान	२९२
सूरदास और तुलसीदास की अभ्युदय और नि श्रेयस् सम्बन्धी मायता	२९५
गोस्वामी जी की नि श्रेयस् भावना	२९८
आधुनिक काव्य और मानव-सम्बन्धी चिन्तन	२९९
छायावादी युग और मानव	३००
प्रसाद जी का मानव विषयक चिन्तन	३०१
प्रसाद जी के मानव सम्बन्धी चिन्तन का समापन	३०२
'निराला' और 'पत' की मानव सम्बन्धी विचारधारा	३०३
'निराला' जी के काव्य में मानव के इहलौकिक अथवा अभ्युदय-सम्बन्धी विचारधारा	३०४
'निराला' जी के काव्य में नि श्रेयस् सम्बन्धी विचारधारा	३०६
'निराला' के मानव की लौकिक और पारलौकिक उन्नयन सम्बन्धी विचारधारा का समापन	३०८
पं० सुमित्रानन्दन पत का मानव विषयक चिन्तन	३०९
छायावादी अथ कवियों और प्रगतिवादी कवियों का मानव विषयक चिन्तन	३११
प्रगतिवादी कवियों का मानव विषयक चिन्तन	३११
प्रयोगवाद और मानव विषयक चिन्तन	३१३
हिन्दी-काव्य के मानव-विषयक चिन्तन और अरविन्द-दर्शन का सम्बन्ध	३१४

८ शैलीगत प्रभाव ३१७

काव्य में प्रतीक शायी	३१७
प्रतीक : परिभाषा और इतिहास	३१७

भारतीय प्रतीकवाद	३२०
भारतीय प्रतीको की परिकल्पना	३२१
काव्य और प्रतीक	३२३
कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त की प्रतीक-योजना पर श्री अरविन्द का प्रभाव	३२३
श्रीमती विद्यावती कोकिल और श्री आरसीप्रसादसिंह पर श्री अरविन्द जी	३२५
की प्रतीकात्मक तथा दार्शनिक शैली का प्रभाव	
निष्कर्ष	३२६
उपसंहार	३२७
परिशिष्ट	३३०



परंपरागत दार्शनिक पृष्ठभूमि और अरविन्द-दर्शन पर उसका प्रभाव

अरविन्द-दर्शन को प्रभावित करने वाले भारतीय सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय

श्री अरविन्द का दार्शनिक सिद्धान्त का स्वर आस्थावादी है। ब्रह्म, जीव प्रकृति ईश्वर माया और आत्मा के प्रति उनका पूर्ण विश्वास है। यह हमारी बात है कि वे इन सबका चेतन्य के विविध अवस्थाक्रम में सूत्रित करने परम चैतन्य अथवा ब्रह्म का ही रूप मानते हैं और उनकी परम सत्ता का स्वीकार नहीं करते। अतएव इसमें यह पूर्ण स्पष्ट है कि उनकी दार्शनिक विचार धारा पर वैदिक दर्शन सारथ याग-दर्शन, मीमांसा दर्शन, काश्मीरी शैव-दर्शन आदि आत्म-वादी दर्शन तथा बौद्ध दर्शन, जैन-दर्शन का किसी न किसी रूप में प्रभाव पड़ा है। यहाँ यह देवता का प्रवास किया जा रहा है कि उनका दार्शनिक विचार-सारणि किस मीमांसा तक उपयुक्त दर्शन में प्रभावित रही है। साथ ही हम बात की भी चेष्टा की जा रही है कि श्री अरविन्द को ब्रह्म जीव जीवन आदि के सम्बन्ध में क्या मान्यता है ?

[अ] वैदिक दर्शन

वैदिक दर्शन का आयाम ब्रह्म, ब्राह्मण, उपनिषद् और गीता के सिद्धान्तों द्वारा सम्यक् माना जाता है। अतएव उपर्युक्त क्रम के अनुसार ही वैदिक दर्शन के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया जा रहा है।

(१) वेदों का दार्शनिक चिन्तन—भारतवर्ष का दार्शनिक परंपरा के पृष्ठ-भूमि हमें आयों के सबसे प्राचीन ग्रन्थ बता सही प्राप्त है। दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा दुःख के आत्यंतिक निरसन का प्रवास ही दार्शनिक विचार धारा का इतना प्राचीन ज्ञान का कारण प्रतीत होता है। मानव ने अपने जन्म के साथ-साथ ही अपने को सुख दुःख के गुम्फ में आवद्ध पाया। दुःख की अतिगंभीरता के फलस्वरूप ज्ञान प्राप्ति और पीड़ाओं द्वारा ही उस चिर विमुक्ति के लिए उसने तभी से अभियान प्रारंभ कर लिया होगा। हमारे उन प्राथमिक अभियानों का विवरण समारंभ के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ (वेदा) में अंकित प्राप्त होता है।

(२) वेदों में वर्णित विचारधारा के प्रकार—यज्ञ के अन्तर्गत दानित

विचारधारा का स्वरूप विविध प्राप्त होता है। उस विभाजन का हम कम और पान वाण्ट के नामों से जानते हैं। कम वाण्ट के अन्तर्गत उपामनाआ का तथा पानवाण्ट के अन्तर्गत आध्यात्मिक चिन्ता का रूप प्राप्त होता है। इस विभाजन का मूल मूल्य यह प्रतीत होता है कि जब प्रथम माध्यम अथवा जिनागु सन्धार के नियमों के पालन के द्वारा अपना अन्तःकरण की परिशुद्धि करके जिससे उसकी मनोभूमि अध्यात्म कीर्ण के स्वरूप बन जाय। वेदा में जिनकी उपामनाआ का उल्लेख हुआ है उन सवका पालन सभी के लिए आवश्यक नहीं है क्योंकि इन सभी में कुछ तो कम है जिनके करने में कोई पुण्य अथवा अपुण्य कस्तु की उपस्थिति नहीं होती कि न करने में पाप होता है, जगत् सन्धारपामना आदि और कुछ अश्वमेध आदि नमस्तिन अथवा साम्य कम है जिनके करने से फल की प्राप्ति ना होती है किन्तु न करने में किसी प्रकार की हानि नहीं होती। इन साम्य तथा नमस्तिन सभी को करने की यद सभी को आता नहीं देना। जस्तु अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार जिनागु का इन सभी के सम्पानन द्वारा सफलता प्राप्त होती है और अनाधिकार च्यन करने में जिनागु सफल नहीं होता तथा उस अनेक विघ्न बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

अन्तःकरण की परिशुद्धि करने के लिए जिनागु का किसी न किसी उपामना का अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार आश्रय अवश्य लेना चाहिए। यदि जिनागु किसी उपामना का अवलम्ब नहीं लेता तो उसके हृदय में पान की ज्योति का प्रकाश नहीं होगा और न वह आत्मोपनिधि बन सकता है। किन्तु उपासना अथवा कम का बहिर सिद्धांत यद्यपि पुष्ट चिन्तन-सरणि के कारण दान गारु के अन्तर्गत ही आता है। किन्तु फिर भी इस आनुपमि ही समझना चाहिए क्योंकि इसमें मूल रूप से आध्यात्मिक विचार नहीं किया गया है।

(३) परम ज्योति अथवा आत्मा का अन्वेष्टन—कम-वाण्ट के उपयुक्त साधना के द्वारा जब बहिर ऋषिया ने अपने दुःखा की पूर्ण निवृत्ति करने में अपने को असमर्थ पाया होगा तो प्रकृत्या उहने दयी शक्तिया की शरण ले होगी। दयी शक्तिया में आदित्य का अत्यधिक जावत्यमान तथा प्रभावशाली देववर उहने अपने दुःखा की निवृत्ति के लिए प्रायना की होगी। ऋग्वेदान्तर्गत उनकी यह स्तुति 'हे आदित्य' मुझे दाहिने और बाएँ का पान नहीं है मैं पूर्व और पश्चिम दिशाओं का नहीं जानता। मेरा पान परिष्कृत नहीं है और (पान के बिना) मैं मूल और हतोत्साह हो गया हूँ यदि आप की कृपा हो तो मैं अवश्य ही उस अभय-ज्योति को प्राप्त कर सकता हूँ।^१ उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति की परिचायिका सा है ही साथ ही उस अभय-ज्योति (आत्मा) की सबसेमय शक्ति के रूप में मायता की भी

सोनिया ह। सम्बन्ध एक अथ मन्त्र (२—२७—१४) में भी इस (अभय ज्योति) की प्राप्ति के लिए प्रायना का गई है। किन्तु इस परम तत्त्व अथवा आत्मा की उपलब्धि बिना आत्म-समर्पण के असंभव है। अन्तु इस परम ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधन की अनन्त मात्रा में आत्म-समर्पण के लिए वता दिया गया है क्योंकि बिना पूर्ण आत्म समर्पण के अहंकार का पूर्ण निरसन नहीं हो सकता और अहंकार के बिना भ्रष्ट हुए माह दूर नहीं हो सकता और बिना माह निवृत्ति के आत्म-ज्ञान असंभव है।

वेद के सहिता भाग के पन्ने में यह स्पष्ट ज्ञान हास है कि तत्कालीन व्यक्ति समार के विषय में पूर्णतया अवगत थे। वे मृत्यु से डरते थे और दीर्घ जीवन के लिए दैवताओं की प्रायना करते थे।^१ वे सुख-दुःख ज्ञान-अज्ञान नित्य अनित्य अजर-अमर तथा इस लोक-परलोक के विषय में पूर्ण अवगत थे और इसी हेतु वे अभय-ज्योति-स्वरूप परमात्मा के ज्ञान के लिए दैवताओं की प्रायना करते थे। इसके अनिरुद्ध उद्देश्य यह भी भलाभाँति ज्ञात था कि उपासना के समय साधक साधन के साथ अभिन्न हो जाता है।^२ अर्थात् दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जीवात्मा का परमात्मा के साथ तादात्म्य उपस्थित हो जाना ही मानव का चिर अभीष्ट है और बौद्ध युग के लोग इस तथ्य से पूर्ण परिचित थे। उपपुत्र उत्पल्ल से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि भारतवर्ष में दार्शनिक विचार धारा सृष्टि के प्रारंभ में ही विद्यमान है और सामक्य अपने दुःखों की निवृत्ति के लिए अपनी उत्कृष्ट उपासनाओं द्वारा दैवताओं के दुःखों के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए तत्पर रहते थे।^३

(४) वेद में सृष्टि विचार—आत्मा और परमात्मा की अवस्थिति के विचारों के साथ-साथ ही जगत् अथवा सृष्टि का उत्पत्ति का विचार भी दार्शनिक चिन्ता धारा का महत्वपूर्ण अंग रहा है। वेद में जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं। कहीं पर अग्नि से, कहीं साम से कहीं त्वष्टा^४ से कहीं इन्द्र से और कहीं विश्वकर्मा और वरुण से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है।

इन विभिन्न मतों में जा तथ्य सन्निहित दृष्टिगोचर होता है, वह है अपन-अपन दृष्ट दैवता का सर्व श्रेष्ठ और सर्वाधिक महान् मानना। कम यदि हम दार्शनिक दृष्टि से दृष्ट ता सृष्टि की प्रत्यक्ष वस्तु ब्रह्म का ज्ञान का कारण ग्रहण ही है। इसी लिए साधना की चरमावस्था में उनका दृष्ट और ब्रह्म में निस्सी प्रकार का भेद नहीं दृष्टिगोचर होता था। इस प्रकार अभेद बुद्धि का उदाहरण ऋग्वेद में ही विद्यमान है।^५

१—ऋग्वेद, १०—१६४—४, अथर्व वेद, ३—२—४ तथा २०—९६—४।

२—यजुर्वेद, १—५—१०।

३—यजुर्वेद, १—५—१०।

४—ऋग्वेद १—७।

गातरीय मूक्त^१ तो वरुणा दानिक मूक्त ही है। इस मूक्त में सृष्टि रचना का विनाश विवरण प्राप्त होता है। इस मूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में न अमा^२ था और न मृत और न अन्तरिक्ष और व्याम ही थे। उन समय मायु का भी भय नहीं था। तब वह एत था और उसके अतिरिक्त और कुछ न था। सधन गहन अधनार का आन्ध्रमय था। तब था प्राणा नही था इयाणि क्रवन्^३ में सृष्टि के विषय में विचार प्राप्त होने हैं। इस सूक्त से यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में कोई एक अव्यक्त चेतन था जिसके द्वारा पदवानपन्-सृष्टि की विचित्रता पूर्ण रचना हुई। क्रवद य उस अव्यक्त चेतन का नाम बताया है। वस्तुतः 'तपस' सबव्यापी शक्ति का नाम है इसी के द्वारा पान दृष्टा और क्रिया गति का भी अभिव्यक्ति होनी है। ठीक इसी भावना का उत्तरत क्रवद व प्रथम मन्त्र में भी प्राप्त होता है।^४

(५) यद के मात्र माय अथवा संहिता माय के दान का निष्कर्ष—यथा व अनगन ननिव और अभितित्र अथवा वाम्य कर्मों का विषय वचन व दान व रूप में प्राप्त होता है।

वेदा के अन्तर्गत परमात्मतत्त्व का उत्प्रेष अभय ज्ञानि तथा एक व्यापक शक्ति जो सभी का जन्म देती है के रूप में प्राप्त होता है^५। इन्द्र ही वह परम शक्ति है जो सभी अग्नि सभी सूर्य सभी वायु के रूप में वर्णित है। अन्तरिक्ष और नमन भी इसी इन्द्र के रूप हैं।^६

वेदातगत सृष्टि की उत्पत्ति अग्नि में मानी गयी है। त्वष्टा व जावा का तथा इन्द्र व समस्त पृथ्वी और अन्तरिक्ष का उत्पन्न किया। वही वही विश्वकर्मा और वरुण का भी स्रष्टा के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु इन सब मूल में अपने इष्ट को ब्रह्म अथवा सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में देखने का भाव सम्निहित रहा है। वस्तुतः स्रष्टा एक ही है चाहे उग इन्द्र वही चाहे अग्नि अथवा किसी अन्य देवता या शक्ति के नाम से सन्निहित करो।

वेदा (संहिता भाग) के अन्तर्गत वम के दार्शनिक सिद्धांत का महत्वपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। पूव जन्म के कर्मों से मुक्ति मिल जाय इसलिए यक्ति के लिए प्रायश्चा का विधान है।^७ सचिन् तथा प्रारब्ध कर्मों का उत्पन्न भी मन्त्रा में प्राप्त होता

१—ऋग्वेद १०—७२—२—४।

२—ऋग्वेद, १—३—१०—१२।

३—यजुर्वेद १६ अध्याय (पुरण सूक्त)

४—सायण भाष्य

५—ऋग्वेद, ६—२—११

है^१। 'दवयान' तथा 'पितृयान' मार्गों का भी विस्तृत विचार वेद में प्राप्त होता है^२। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के अंतर्गत नीच कर्मों का करने वाले किस प्रकार वक्ष लतादि स्थावर शरीरा का प्राप्त करते हैं का विवशता के साथ उल्लेख मिलता है^३।

(६) आत्म तत्व का विकास—वेदा के सहिता भाग में क्रम से पथक आत्मा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। इससे निष्कर्ष होता है परमात्मा से भिन्न आत्मा के स्वरूपनिर्धारण की चेष्टा बाद में हुई। आत्मा की शायद वं लिए जो भी प्रयत्न किए गये होंगे, उनका मूलधार व्यक्ति की दुःख निवृत्ति ही रही होगी^४। ब्रह्मव्यापारा में जब जिनासु का अपने दुःख की निवृत्ति का निदान न मिला होगा तो उसने अपने आत्म्यतर की छान-बीन करनी आरम्भ की होगी और उसकी इस प्रकार की गांध का परिणाम आत्म-लाभ रहा^५ है। आत्मापत्र के साथ-साथ उसका सभी प्रकार के दुःखों की निवृत्ति भी हां गयी होगी^६।

यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा गया है, वेदा के सहिता भाग में जिनासु भिन्न भिन्न देवताओं की स्तुतियाँ के द्वारा उन देवताओं का (इंद्र वरुण, पूषन आदि) अपनी दुःख निवृत्ति का कारण जान कर उन्हें ही आत्मा समझने लग। वेदा के सहिता भाग में आत्मा के विषय में इससे अधिक विचार नहीं प्राप्त होता। किन्तु, वेदा के पश्चात् ब्राह्मण ग्रंथा में भी यन् विधान की ही विधि प्रतिष्ठा रही है और आत्मा के अवेपण की प्रगति प्रायः गौण ही है।

[च] ब्राह्मण तथा आरण्यक

(१) आत्मा का स्वरूप—जमा कि ऊपर कहा गया है ब्राह्मण ग्रंथा में आत्मा सम्बन्धी विचार अथवा अन्य दार्शनिक उपपत्तियाँ का अभाव है। किन्तु ब्राह्मण-ग्रंथा की भाँति वेद का अपना अपना आरण्यक ग्रंथ भी है। ये ग्रंथ ब्राह्मण-ग्रंथा के सहायक हैं और ब्राह्मण ग्रंथा में वर्णित यज्ञ के रहस्य का उद्घाटन करते हैं। इन ग्रंथा में दार्शनिक विचारणाओं का विधि उल्लेख प्राप्त होता है। यही कारण है कि अनेक महत्वपूर्ण उपनिषद् आरण्यक-ग्रंथा के ही भाग हैं। जैसे 'ऐतरेय उपनिषद्' ऐतरेय

१—ऋग्वेद ३-३८-२, १-१६४-२०।

२—ऋग्वेद, ६-२-११

३—ऋग्वेद, ३-३८-२, १-१६४-२०

४—ऋग्वेद ३-५५-१५

५—ऋग्वेद, ७-४-३, ७-१०१-६, ७-१०२-२।

६—ठा० उमेरा मिश्र, भारतीय दर्शन।

(अ) डा० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, वालूम १, पृष्ठ १६९।

ब्राह्मण का कौपीतवि उपनिषद् वपौतवि आरण्यक का और महानारायण उपनिषद् तैत्तिरीय आरण्यक का भाग है। शतपथ ब्राह्मण के अनुष सण्ड का कुछ भाग 'आरण्यक' कहनाता है और इसी आरण्यक के अंतिम छ अध्याय बृहदारण्यक नामक महत्वपूर्ण उपनिषद् है।

जमिनीय ब्राह्मण में विविध प्रकार के यज्ञों का पथवसान एवं विष्णुरूप में हो गया। जब विष्णु को ही यज्ञ मान कर उन्हा की उपासना में चरम पद की प्राप्ति समझी जाने लगी^१। इसमें अतिरिक्त वनोपनिषद् में यक्ष तथा देवताओं के सबा का भी यही निष्कर्ष है कि देवताओं में आत्मा भिन्न है।

इस प्रकार ब्रह्म-तत्त्व अथवा आत्म-तत्त्व का सब प्रथम परिचय हम ब्राह्मण ग्रंथों में ही पाते हैं। पहले-पहले साधना में मित्र बहस्वति वायु तथा यज्ञ की ब्रह्म के रूप में समझा^२। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बाद का भक्ता ने ब्रह्म से देवताओं की उत्पत्ति मानी। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में हम ब्रह्म का स्वरूप व्यापन रूप में मिलता है। किन्तु ब्राह्मण-ग्रंथों में आत्मा ब्रह्म से भिन्न ही तत्त्व रही है। उस समय तक ब्रह्म और आत्मा में अन्तर्द्वन्द्व नहीं उपस्थित था। सब था। हाँ ब्रह्म देवताओं से अभिन्न और उनका उत्पन्न करने वाला अवश्य माना जाता था। वह देवस्वरूप सब-व्यापन स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित था। आत्मा देवताओं से भिन्न एवं विनाश तत्त्व के रूप में स्वीकृत था।

आरण्यकों में ब्राह्मण के तीन स्वरूपों का उल्लेख प्राप्त होता है—(१) स्थूल रूप पृथ्वी आदि के रूप में (२) सूक्ष्म रूप मनस् आदि के रूप में तथा (३) सूक्ष्म स्वरूप प्रणव के रूप में^३। ब्रह्म का स्वरूप जानिये के लिए सत तथा अना निया के लिए असत है। प्रणव जो ब्रह्म का ही स्वरूप है स स्यावर तथा जगत् रूप से जगत् की उत्पत्ति होती है और वह पुन उसी में लय हो जाती^४ है। यही प्रणव सत्य और नान है तथा इसका स्वरूप अनन्त है^५। इसकी अभिव्यक्ति परम प्रकाश में होती है और इसी के दर्शन से मुक्ति प्राप्त होती है^६।

आरण्यक के उपयुक्त वर्णनसे यह प्रकट होता है कि ब्रह्म की मायता क्रम-

१—जमिनीय ब्राह्मण, २—६८, यज्ञो व विष्णु तत्तिरीय संहिता १—७—४।

२—शतपथ ब्राह्मण, १—३—२—४।

३—तत्तिरीय आरण्यक ७—६—८।

४—वही ७—८।

५—वही ८—६।

६—वही ८—२।

वेदान्त के ब्रह्म के स्वरूप के निकट आती गई। ब्रह्म का रूप जो ब्राह्मण ग्रन्थों में देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित था अब शुद्ध वेदान्त के ब्रह्म के समान माना जाने लगा।^१

उपयुक्त विचारणा से यह स्पष्ट होना है कि ब्राह्मण तथा आरण्यक-ग्रन्थों में ब्रह्म और आत्मा के स्वरूप पर एक-दूसरे और आत्मा के स्वरूप से देवता के स्वरूप का कोई सम्बन्ध नहीं था। अपने-अपने ज्ञान के विक्रमानुसार तत्कालीन जिज्ञासुओं ने आत्मा के स्वरूप की प्रतिष्ठा पृथक् पृथक् रूप से की है। उदाहरणार्थ शतपथ ब्राह्मण में मानव शरीर के मध्य भाग को आत्मा के नाम से अभिहित किया गया है।^२ और उसी स्थल पर श्विह, त्वचा मांस और अस्थि के लिए भी आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है।^३ उसी ग्रन्थ में मनस, बुद्धि, अहंकार और चित्त के लिए भी आत्मा शब्द प्रयुक्त हुआ है।^४ शतपथ ब्राह्मण तम ही जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं के लिए भी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग मिलता है।^५ पाश्चान् पद आत्म तत्त्व आत्माश के साथ अभिन्न हो गया और इस प्रकार आत्मा की पञ्च सत्ता स्वीकार की गई।^६

ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त आरण्यक ग्रन्थों में आत्मा के स्वरूप का सूक्ष्म चिन्तन प्राप्त होता है। किन्तु वहाँ भी आत्मा के साथ एक मन नहीं दृष्टिगोचर होता। उनमें वही आत्मा को प्राण से अभिन्न माना है।^७ तो वही इसे 'विज्ञानमय' तथा 'आनन्दमय' की सजा दी गई है।^८ हमने पश्चात् अंत में आरण्यक में 'आत्मा सम्बन्धी विचारणा की परिणति 'आनन्द' में हाती है। अर्थात् आत्मा का स्वरूप चिर आनन्दमय^९ है। ऐतरेय ब्राह्मण में दावा पृथ्वी के मध्य के आकाश के साथ आत्मा का अभिन्न सम्बन्ध बताया गया है।^{१०} ऐतरेय आरण्यक में आत्मा-सम्बन्धी समस्त विवेचन प्राप्त होता है। आत्मा ही समस्त लोका का स्रष्टा है वह निदपाधि तथा सोपाधि दोनों है इसका भी विवरण इसी आरण्यक में प्राप्त होता है। तदनन्तर इसी आरण्यक में चिद रूप पुरुष या ब्रह्म के साथ इस आत्मा को अभिन्न बताया

१-वही ७-१-१।

२-७-१-१

३-७-१-१

४-७-१-१-१८

५-७-१-१-१८

६-जमिनीय ब्राह्मण २-५४।

७-तत्तिरीय आरण्यक ९-१।

८-तत्तिरीय आरण्यक ९-१।

९-तत्तिरीय आरण्यक ९-१।

१०-१-३-८।

गया है।^१ एतरेय ब्राह्मण में ही 'आमा' का सर्वपापी स्वीकार करते देखा गया है कि 'गुह्य' चतुर्थ का छाहकर इस जगत् में और किसी भी वस्तु की अवस्थिति नहीं है। देवता तथा स्यावर जगत् समग्र, जगत् आमा है। यही आत्मा गप्पा है इसी में सभी पदार्थों की स्थिति है और जगत् में सभी पदार्थ इसी में लय हो जाते हैं।^२

(२) ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रंथों में सृष्टि अथवा जगत्—आमा अथवा ब्रह्म के त्रिमूर्ति विग्रह तथा स्थापना के विचार के साथ साथ ही ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रंथों में सृष्टि-साधारण पर भी विचार प्राप्त होता है। सृष्टि के सम्बन्ध में भी एक विचार नहीं प्राप्त होता और उस अनन्त विषय एतत् सम्बन्धी चिन्तना में यह प्रतीत होता है कि सृष्टि सम्बन्धी-परिवर्तन भी जगत् ही विवर्धित रहै है। कुछ विचारकों ने जगत् की उत्पत्ति प्रजापति में माना है और इनके स्वरूप का स्थूल परिवर्तन में पाँच तत्त्वों का पाँच वायु पाँच भूत तथा मानव का मान माना है। इनका ही प्रजापति का अन्तिम अन्तिम घाटित करके सब व्यापक मान लिया गया है। इस प्रजापति का शरीर सृष्टि के पश्चात् नष्ट हो गया और उसी में जगत् की उत्पत्ति हुई।^३ किन्हीं किन्हीं के अनुसार जगत् में प्रजापति का उद्भव हुआ और उसके अनुसार जगत् की सृष्टि यही है।^४ बाद का यह जगत् ब्रह्म के साथ अन्तिम हो गया है।^५ किन्हीं किन्हीं सत्यता पर जगत् और जगत् में ही सृष्टि की उत्पत्ति का उत्पत्ति प्राप्त होता है। तत्तरीय आरण्यक के अनुसार जगत् की उत्पत्ति का उत्पत्ति प्राप्त होता है। एतरेय आरण्यक के अनुसार सभी पदार्थों में मनुष्य का ही ऐसी सृष्टि हुई है जिसमें आत्मा का समग्र अभिन्नजन हुआ है और इसी कारण उत्त आरण्यक सब प्रकार का जगत् मनुष्य में ही माना है। मानव की उत्पत्ति का विवरण एतरेय आरण्यक में विस्तार में प्राप्त होता है। जगत् उत्पत्ति होने वाला जीव पिता के शरीर में 'गुह्य' के रूप में विद्यमान है। गन्धर्व के समग्र पिता है अपना स्त्री के उदर में गुह्य में प्रविष्ट होकर जगत् सत्ता है। इसी प्रकार अन्य ब्राह्मण ग्रंथों में भी सृष्टि सम्बन्धी वर्णन प्राप्त होता है।^६

१-२-४-१-३।

२-२-६-१।

३-तत्तरीय ब्राह्मण, ७-१-४-१७, २३, ७-१-२-१ ६, ८-१-१-२३।

४-निरुक्त, ४-१९-९

५-तत्तरीय आरण्यक, १-३२ सायण भाष्य।

६-(अ) भारताय दशन (श्रीत दशन), अतदेव उपाध्याय

(ब) नि एनासियत्स आक इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ १५

लेखक, एम० हिरियाना

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथों में भारतीय दर्शन की विचार धारा पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका था।

[स] उपनिषदों में दार्शनिक विचार

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेद व संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक विभाग मुख्यतया उपासना के ग्रंथ हैं और यों ही उनमें दार्शनिक सिद्धांतों का निरूपण हुआ है। यद्यपि उपासना भी दर्शन का हिस्सा है। उपासना के बिना अतः करण का शुद्ध असंभव है और बिना अंतःकरण की शुद्धि व ज्ञानोदय हो ही नहीं सकता और बिना ज्ञान के आत्मानुभूति भी पूर्णतया असंभव है। और इसी कारण संहिता ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रंथों में उपासना के विचार के साथ साथ आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक विचारणाओं की प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती है। और उपनिषदों में दार्शनिक विचारणाओं की मुख्यता के साथ साथ उपासना भी अनुस्यूत है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि वेद चार भागों में वर्गीकृत किया गया है—(१) संहिता भाग (२) ब्राह्मण भाग (३) आरण्यक भाग तथा (४) उपनिषद भाग। इन सभी का धुनि बना जाता है। प्रथम तीन भागों में स्तुति तथा यज्ञादि का प्रधानता मिलता है। उपनिषदों में वेद का ज्ञान काण्ड बना जाता है। इनमें तत्त्व के आधार पर दार्शनिक सिद्धांतों की व्याख्या की गई है। उपनिषदों का मुख्य विचारणीय प्रश्न 'आत्मा का स्वरूप' है। ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथों में आत्मा का स्वरूप ब्रह्म में मिश्र है किन्तु उपनिषदों के अनुसार 'आत्मा' ब्रह्म में अभिन्न माना गया है। ब्राह्मण तथा आरण्यक 'मन' में अभेद की प्रतिष्ठा करते हैं और उपनिषदों में अनुभूति के द्वारा अभेद की स्थिति प्रतिष्ठित हुई है।

(१) उपनिषद 'मन' की व्युत्पत्ति—उपनिषद 'मन' उप एव निपुणक 'सन्' धातु से क्विप् प्रत्यय लगाकर बना है। 'सद' धातु का अर्थ है नाश गति और निमित्त करना। 'उप' का अर्थ है 'समीप' तथा 'नि' का अर्थ है निश्चयपूर्वक। अर्थात् वह विद्या अथवा शास्त्र या विषय या पुस्तक जिसकी प्राप्ति से अविद्या का निश्चय रूप से नाश हो जाय मुमुक्षु का ब्रह्म या विद्या के समीप में जाकर उसका साक्षात्कार कराव और जो समार के बर्धना को निश्चित कर दे उपनिषद कहलाने हैं। किन्तु वस्तुतः ये सभी अर्थ एक ही विषय की प्रतिष्ठा करते हैं।

उपनिषद की उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में अविद्या के नाश के द्वारा विद्या अर्थात् परब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया पाया है।

ही चिर आनन्द की उपलब्धि तथा दुःख के निवृत्ति के उपाय भी बताया गया है। ये ही बातें उपनिषद् की अभीष्ट स्थापनाओं की विषय हैं। स्थूल तथा सूक्ष्म ज्ञान की सभी बातें उपनिषद् में प्राप्त होनी हैं। उपनिषद् का पश्चान् जितने दानों की उत्पत्ति हुई उन सब ने मूल रूप से उपनिषद् का मिट्टा नाला को माना है। इसलिए आस्तिक और नास्तिक दोनों प्रकार के दानों पर उपनिषद् का प्रभाव किसी न किसी प्रकार से अवश्य पड़ा है और इसी हेतु उपनिषद् मूल दार्शनिक ग्रन्थ है। उपनिषद् का परम लक्ष्य अद्वितीय अण्ड सत् चित् आनन्द परमात्मा का विचार अथवा साक्षात्कार है।

(२) उपनिषद् का मुख्य विषय—जसा कि ऊपर कहा गया है उपनिषद् का प्रधान प्रतिपाद्य विषय आत्मा का स्वरूप निर्धारण है। ऊपर के विवेचन में यह स्पष्ट है कि वेद के सहित ब्राह्मण और आरण्यक भाग में आत्मा का ब्रह्म से पृथक् ही माना गया है उपनिषद् में आत्मा की ब्रह्म के साथ अभिन्नता प्रतिपादित की गई है।^१ उपनिषद् के ऐतद्विषयक प्रतिपादन में विन्धु म एव आत्म तत्त्व ही रह गया। अस्तु अब द्रष्टा और दृश्य तथा ध्याता और ध्येय में कोई अन्तर नहीं रहा। ब्राह्म और आत्मपत्तर सब एक ही तत्त्व में समाविष्ट हो गए। ब्रह्म आरण्यक उपनिषद् में कहा है^२ —मम अममात्मा ब्रह्म विज्ञानमया मना मय प्राणमयश्चक्षुमय श्रोत्रमय आपोमयो पृथ्वीमय वायुमय आकाशमयस्त्रोमया तेजोमय काममयो वाममय शोध मयो बाधमयो घममया घममय सवमय इत्यादि।

उपयुक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि समग्र स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ आत्मा के ही विग्रह हैं। उपनिषद् में आत्मा को सर्वप्रिय माना गया है इसीलिए इस सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।^३

आत्मा अथवा ब्रह्म के दर्शन को बताना प्रायः अमम्भव है फिर भी ऋषियों ने अपनी क्षमता के अनुसार अनेक प्रकार में इसके स्वरूप का निर्धारित करने की चेष्टा की है। उन्होंने कहा कि इसके स्वरूप को प्राण अपना ध्यान, उदान आदि वायुज के रूप में जो हमारे शरीर की रक्षा करती है दत्ता है तो नहीं भूख प्यास जरा मरण आदि बाधादि से हमारा उद्धार करने वाला माना है। कहा पर इसके ज्ञान से ऐहिक एषणाओं से विरक्ति मानी गई है।^४ कहा पर आत्मा का पूरा

१—ब्रह्म आरण्यक, २-५-१९।

२—४-४-५

३—ब्रह्म आरण्यक, ४-५-६।

४—ब्रह्म आरण्यक, ४-५

और अखण्ड माना गया है। निष्कय यह कि विभिन्न औपनिषद ऋषिषा न आत्मा के स्वरूप को अनेक विध निरूपित किया है।

(३) उपनिषद और ब्रह्म का स्वरूप—उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का विविध व्याख्या प्राप्त होती है अर्थात् वह मूल भा है और अमूल भी। यह मूल भी है और अमूल्य भी, स्थिर तथा अस्थिर (यत्), सन (स्वप्न) तथा त्यत् (अवर्णय) भी है।^१ उसी का परमात्मा भी करते हैं।

(४) उपनिषद और जीवात्मा - अविद्या—विशिष्ट ब्रह्म ही 'जीवात्मा' की सत्ता पाता है। कम बचन में पड़कर वह सुख दुःख का भोग करने के लिए सत्ता में आता है और जन्म मरण से युक्त रहता है। इस जीवात्मा को सासारिक स्वरूप ही दुःख का ही भोग नहीं करना पड़ता बल्कि मुक्तावस्था में स्वप्ना का दुःख-मुक्ता का भोग करता है। आर स्वप्ना के माध्यम से परलोक का भी भ्रमण करता है। उपनिषद् का कथन है कि यह जीवात्मा स्वप्नावस्था में अविद्युत विषया की सृष्टि कर लेता है।^२ परन्तु, जीवात्मा और ब्रह्म तो वस्तुतः एक ही हैं। अस्तु स्वप्न की सृष्टि भी ब्रह्म की ही सृष्टि है।

(५) उपनिषद और सृष्टि अथवा जगत का स्वरूप—सृष्टि के विषय में भी उपनिषद् में विचार किया गया है। उपनिषद् के अनुसार सृष्टि का प्रारम्भ में कुछ नहीं था। केवल मृत्यु ही थी। सब प्रथम मन, जल, तैजस्य पृथ्वी और अन्न में प्रजापति की सज्जा हुई।^३ एवं दूसरे स्तर पर कहा गया है कि सब प्रथम पुरुष और उसके पदवात स्त्री की सृष्टि हुई और इन दोनों के संयोग से विश्व की रचना हुई।^४ वहीं-वहीं पर यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि आकाश से सृष्टि की उत्पत्ति होती है और उसी में उसका तत्त्व भी होता है।^५ इस प्रकार उपनिषद् में सृष्टि विषयक वर्णन अनेक प्रकार से प्राप्त होते हैं, किन्तु इन सभी वर्णन से हम यही सरलता में हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सबसे प्रथम एक अव्यक्त तत्त्व था उसी में व्यक्त रूप में जगत की सृष्टि हुई। वास्तव में यह अव्यक्त तत्त्व ब्रह्म ही है जिसमें समस्त सत्ता की उत्पत्ति होती है तथा उसी में वह तत्त्व का भी प्राप्त होता है। उपनिषद् भी कहता है —

१—बृहदारण्यक, २-३-१

२— स्वयं निर्माण बृहदारण्यक, ४-३-९।

३—बृहदारण्यक, १-३१, छांदोग्य २-१-१-९।

४— , १-४-१

५—छांदोग्य उपनिषद् १९-१

यतो वा इमानि भूतानि जायत ।

तेन जानानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभितविगन्ति ।^{१५}

अर्थात् ब्रह्म ही जगत का निमित्त और उपादान कारण है ।

[द] गीता-दर्शन

उपनिषद् युग के पश्चात् की शताब्दियाँ बड़ी विचित्र रही हैं । उपनिषद् काल में यद्यपि दार्शनिकों में सिद्धान्त प्रतिपादन की उन्नति मन भेद का फिर भी उत्तर दृष्टिकोणों में विनाशनाश का जीर पारस्परिक व्यवहार में सदभावना की भी कमी नहीं थी ।^{१६} किन्तु जो मन-व्यभिचय-जनित विरोधाग्नि अभी धीरे धीरे मुनग रणी थी, वह अब अपने प्रचट रूप में प्रज्वलित हो उठा । विभिन्न मतवादियों ने उन्मुक्त रूप में अपना विरोध प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया । इस विरोध का एक ही विषय था वैदिक धर्म और दर्शन । इन विरोधों के द्वारा धार्मिक तथा शान्तिपूर्ण आत्मा का महती क्षति पहुँची । इस प्रकार के विरोधी मता की मर्यादा कम नहीं थी और इस दृष्टिकोण में हमारा ध्यान इस काल की आर विरोध रूप से आकर्षित होता है । किन्तु उस समय के विषय में इतिहास हम अधिक सूचना नहीं देता फिर भी जन भ्रमा, बोद्ध निवादा ब्राह्मण ग्रंथों का उन्निषदा तथा महाभारत में जो सामग्री प्राप्त होती है वह एक दूसरे की पूर्णता है ही साथ ही उसमें उपयुक्त कथन की सत्यता भी प्रमाणित होती है ।^{१७}

विरोध में मानव के अम्युन्य और निश्चय की प्रगति में भयंकर व्याधान पड़ता है । अपने मन की प्रतिष्ठा में रस कर शक्ति का मन सत्य में दूर हो जाता है । इसलिए इन विभिन्न विरोधी मता के खण्डन तथा वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना के विषय में तरसाधीन मनोविषयों के विचार किया । उनका एतद्विषयक काय सिद्धि महाभारत के सुदृढ़ आशय में हुई । महाभारत ने समस्त अवैदिक मतों को खण्डित करके वैदिक मत का विजय घोष किया । ज्ञातित इसीलिए महाभारत का पंचम बंद का नाम से अभिहित किया जाता है । किन्तु यद्यपि महाभारत में अनेक दार्शनिक नैतिक राजनैतिक और सामाजिक विषयों का महत्व पूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है । फिर भी गीता ही महाभारत का बहुमूल्य तथा सारवात महत्वपूर्ण अंग है ।

गीता का आकार बहुत बड़ा नहीं है और उमका चापास मात्र ७०० श्लोकों के अन्तर्गत है फिर भी इन ७०० श्लोकों के भीतर निश्चय की प्राप्ति के जो उपाय बताए गए हैं अत्यंत दुर्लभ हैं । सत्य का स्वरूप निर्विरोध होता है । गीता में

१—तत्तिरीय उपनिषद् ३-१ ।

२—कठ उप० १-१-२० ।

३—भारतीय दर्शन बल्देव श्यामाय तृतीय संस्करण पृष्ठ ८८-९२ ।

बिंसी भी मत का विरोध नहीं प्राप्त होता। वास्तव में गीता की महत्ता उसकी सम-
 'व्यात्मक दृष्टि में है। गीताकार ने तत्कालीन सभी दार्शनिक मता को अपनी सम-
 तापरक दृष्टि से समन्वय की श्रुति में अमूल्य रूप में ग्रहित कर दिया है।
 स्थूल रूप से गीता के सिद्धांत के विषय में कहा जा सकता है कि वह उस व्यवहार
 की प्रतिष्ठा करता है जो ब्रह्म विद्या सम्मत है। अस्तु ब्रह्म विद्या के साथ व्यवहार
 की सगति देखने के लिए यह अत्यावश्यक है कि हम यह जान लें कि गीता के अनुसार
 ब्रह्म गीत और जगत् आदि का क्या स्वरूप है ?

(१) गीता और ब्रह्मतत्त्व—यद्यपि गीता के अध्यात्म निरूपण की सुस्पष्टता
 में सभी विद्वान् एक मन हैं फिर भी एतद्विषयक विवेचन को एक मूलित करने
 किसी निश्चित सिद्धांत का प्रतिष्ठापन दुष्कर कार्य है। वनाचिन इसी हेतु आचार्य
 शंकर ने गीता को दुर्विनेयाथ कहा है।^१ परम लक्ष्य अथवा परम तत्त्व का वर्णन
 'यूनाधिक रूप में प्रत्येक अध्याय में प्राप्त होता है, किंतु आठवें तथा १३ वें अध्याय
 में इसका विशद वर्णन प्राप्त होता है। इस परम तत्त्व अथवा ब्रह्म का गीता विविध
 रूप से स्वीकार करती है, अर्थात् वह उसे सगुण भी मानती है तथा निगुण भी,
 किन्तु फिर भी वह उन दोनों को अभिन्न तत्त्व के रूप में स्वीकार करती है।^२ गीता
 के अनुसार ब्रह्म सत् भी है और असत् भी तथा वह दाना से परे भी है।^३ वह
 समग्र भूत का बाहर भी है और भीतर भी। वह अचर भी है और चर भी तथा
 वही दूर भी है और निकट भी।^४ प्रथम दृष्टि में ब्रह्म की उपयुक्त उपाधियाँ एक
 दूसरे की विरोधी प्रतीत होती हैं किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। क्योंकि वह परम
 तत्त्व समग्र उपाधियाँ से परे है और उसमें समस्त विरोधा का पर्यवसान होता है।

गीता के अनुसार भगवान् में दो भावों की सत्ता है। प्रथम अपर भाव तथा
 द्वितीय पर भाव। अपर भाव के अन्तर्गत भगवान् एक ही अंग के द्वारा यागमाया
 में संयुक्त रहते हैं तथा उसी अंश से जगत् में अभिप्रेत भी होते हैं। इस भगवान्
 का विद्यानुग रूप भी कहते हैं। किन्तु भगवान् की सत्तामात्र—जगत् तक ही सीमित
 नहीं है, वरन् इससे परे भी है। और जगत् में पर जा उनका स्वरूप है वास्तव
 में वही उनका वास्तविक स्वरूप है। उनका इसी अन्वय रूप का नाम है पर भाव
 अथवा विद्यातिग रूप।^५ गीता के अनुसार ब्रह्म-सत्ता की व्याप्ति इति ताना भावा

१—तद्विद गीताशास्त्र समस्ते वेदाय सार सग्रहमत दुर्विनेयाथम् ।

१—सर्वोद्भूत गुणभास सर्वोद्भूत विविजितम् ।

असत् सयमुत्पद्य निर्गुण गुणभोक्तृ च । (गीता १३।१४)

२—१।३७ ।

३—गीता, १३।१५

४—पर भावमजानतो ममाव्ययममुत्तमम्—७।२५।

द्वारा प्रतिष्ठित हुई है। वसंता भगवान् अथवा ब्रह्म सब-यापक है। फिर भी एश्वर्यवान् अत्यन्त सुन्दर तथा शोभागाली और ओम्स्वी पदार्थों में परमात्मा की शक्ति का विास अधिक प्रबल होता है।^१ गीता के दसवें अध्याय में ब्रह्म का विशद वर्णन प्राप्त होता है।

(२) गीता और जीवतत्त्व—गीता जीव का चतुर्थ हाने के कारण पराप्रकृति के रूप में ग्रहण करती है। यह ब्रह्म की उत्तम विभूतियों में से है। इस ही वह 'क्षेत्रज्ञ' की भी सत्ता देता है। शरीर ही क्षेत्र है क्योंकि कृतकर्मों के फल का वही धारण करता है। जो इस क्षेत्र में भलीभाँति अवगत है वही क्षेत्रज्ञ है। जावात्मा ही इस क्षेत्र अथवा शरीर के समग्र अंग उपांग से भली भाँति परिचित है चाहे उसका यह परिचय स्वाभाविक रूप से हो अथवा किसी के उपदेश द्वारा। वसंता गीता के पथक-मथक अध्याया में जावात्मा का वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु द्वितीय अध्याय में इसके विषय में विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। गीता की यह मायता है कि आत्मा न तो मरता है और न जन्म ग्रहण करता है। वह नित्य, शाश्वत तथा प्राचीन हान हुए भी चिर नवीन है। इस नश्वर शरीर में उसका कभी नाश नहीं होता।^२ अतएव जो व्यक्ति उस मरने वाला अथवा मारने वाला समझता है वह दोनों उत्तम अनभिज्ञ है क्योंकि वह मरने और मारने की क्रियाओं में पथक है।^३ जिस प्रकार मनुष्य जीण जीण वस्त्रों का त्याग कर नवीन वस्त्रों को धारण करता है उसी प्रकार वह जीण जीण शरीरों का छोड़कर नूतन शरीरों का धारण करता है। गीता कहती है कि वह जावात्मा अविकार अज्ज्ञेय अदाह्य तथा अत्वेष्ट है, वह शाश्वत सबव्यापी स्थिर, अचल तथा सनातन है।^४ यह जावात्मा अनेक न होकर एक ही है। जिस प्रकार सूर्य समस्त जगत को प्रकाशित करता है उसी प्रकार जीव के द्वारा समस्त शरीर प्रोद्योतित रहता है।^५ गीता के अनुसार जीव ब्रह्म का सनातन अंग है।^६ ब्रह्मासूनातगत भां गीता के उपर्युक्त सिद्धांत का स्वीकार किया गया है और उसमें गीता की साक्षी स्मृति वाक्य के रूप में दी गई है। जीव और ब्रह्म के अशरीर सम्बन्ध की गीता की मायता का क्या अर्थ है? गीता में स्पष्ट नहीं किया गया।

१—यद्यद बिभ्रुतिमत सत्त्व श्रीमदजित मेव वा।

यतेदेवावगच्छ त्व मम तेजो च सम्भवम् ॥ १०।४१ ॥

२—गीता, २।२०।

३—गीता, २।२०

४—गीता २।२०

५—गीता २।२०।

६—यही १३।३३।

७—ममवाशे जीवत्माके जीवमत सन्नतन, गीता १५।७।